# अनारकली, शुभचिंतक साहब और हम निवेदक

## नियाज़ मन्दान-ए-लाहौर[1]

## पतरस बुख़ारी

**(व्यंग्यात्मक आलोचना)**

*(किसी अज्ञात व्यक्ति का "साक़ी[II]" में एक रिव्यू छपा जिसमें इम्तियाज़ अली ताज के नाटक "अनारकली" की आलोचना थी। आलोचक ने नाटक के मापदंडों के बजाय अपने पूर्वाग्रहों के आलोचना का आधार बनाया और नाटक से सम्बंधित कुछ व्यक्तियों के निजी समबन्धों की ओर चंद भद्दे संकेत किये। पतरस ने यह लेख उसी की प्रतिक्रिया में लिखा है। इसमें व्यंग्य की धार बहुत तेज़ है और स्वर में कड़वाहट है जो आम तौर पर पतरस के निबंधों में नहीं होती। लेख में नाटक की आलोचना के कुछ उसूलों की ओर भी संकेत किया गया है, जो आलोचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। हालाँकि यह लेख किसी अन्य लेख की प्रतिक्रिया है, लेकिन इसे पढ़ते समय हमें उस अज्ञात लेख को पढ़ने की आवश्यकता महसूस नहीं होती। एक स्वतन्त्र व्यंग्य निबंध के रूप में यह पाठक के लिए रुचिपूर्ण है----अनुवादक)*

दिसंबर 1932 की पत्रिका "साक़ी" में "अनारकली पर एक दृष्टि" के शीर्षक से "एक शुभचिंतक के क़लम से" एक लेख छपा है, जो कुछ कारणों से बेहद दिलचस्प है। लेख का क्षेत्रफल साढ़े आठ पन्ने है, लेकिन प्रति वर्ग मील के हिसाब से विचारों की मात्रा साइबेरिया की आबादी से अधिक नहीं। जहाँ तक बदगोई (निंदा) का सम्बन्ध है लेखक महोदय हर पंक्ति में गज़-गज़ भर उछले पड़ते हैं। लेकिन जहाँ तक आलोचना का सम्बन्ध है पात्र की पात्रता चुल्लू भर से भी ज़्यादा नहीं, और चुल्लू भी ऐसा जिसमें वे खुद बावजूद अपने छिछले विचारों के डूब मरने में असमर्थ हैं।

तो पहले बदगोई (निंदा) को लीजिये क्योंकि शुभचिंतक महोदय ने अपने क़लम की ऊर्जा इसी विधा अर्थात बेहूदगी पर ख़र्च की है। ऐसा मालूम होता है कि अनारकली पढ़ने के साथ ही शुभचिंतक महोदय को बदहज़मी की शिकायत हो गई। लिहाज़ा उनके व्यग्र मन से इस तरह की घिनौनी आवाज़ें निकलती हैं। कहते हैं अनारकली पढ़कर बड़ी मायूसी हुई। अनारकली की मौत से अधिक खुद ताज साहब की हालत पर रोना आता है। वे बधाई के बजाय किसी और बात के हक़दार हैं। दिल से चाहते हैं कि ताज साहब आइन्दा इस निर्दयता से लिटरेचर का खून न बहाएँ तो बड़ी कृपा होगी। बल्कि बेहतर तो यही है कि वे आइन्दा ज़िम्मेदार

---

[1] लाहौर में आधुनिक विचारों एवं रुझानों वाले नौजवान लेखकों व कवियों की एक मंडली, जिसने बीसवीं शताब्दी के दूसरे से चौथे दशक में उर्दू साहित्य में काफ़ी हलचल मचाए रखी। पतरस बुख़ारी इस मंडली के महत्वपूर्ण लेखक थे।

[II] साक़ीः दिल्ली से निकलने वाली उर्दू साहित्य की प्रतिष्ठित पत्रिका जो 1932 से 1947 तक निकलती रही। शाहिद अहमद देहलवी (1906- 1967) इसके संपादक थे। ये उर्दू के लेखक, अनुवादक और संगीतकार थे, और उर्दू के विद्वान, शैलीकार लेखक, अनुवादक और उर्दू के पहले उपन्यासकार डिप्टी नज़ीर अहमद के पोते। (अनु.)

लिटरेचर से कोई वास्ता न रखें। अनारकली का ड्रामा तो इतना भी भारी-भरकम नहीं जो पढ़े-लिखे तो दरकिनार मामूली जानकारी के आदमी को ही भाए या उस पर रौब डाल सके, और ताज साहब को नसीहत करते हैं कि वे तुरंत इसे दरिया में डुबो दें।

जब हमने ये शब्द पढ़े तो ख़याल आया कि दिल्ली किसी दोस्त को तार भेजें कि किसी हकीम से मशवरा करके शुभचिंतक महोदय को एक हल्का सा जुलाब दे दें ताकि पेट की यह गड़गड़ाहट दूर हो जाए और उन्हें हिदायत करें कि आइन्दा बरस-दो-बरस तक के लिए अपनी साहित्यिक ख़ुराक थोड़ी हल्की रखें। मसलन स्वर्गीय मौलना इस्माईल मेरठी[i] की कविताएँ या मौलाना हसन निज़ामी[ii] का रोज़नामचा (डायरी), बस ऐसी-ऐसी चीज़ें पढ़ लिया करें क्योंकि उनका पाचन-तंत्र इससे भारी बोझ बर्दाश्त नहीं कर सकता। जब थोड़े बड़े हो जाएँगे और कुछ थोड़ा बहुत पढ़ लेंगे तो फिर ट्रेजिडी की आलोचना से भी शौक़ फ़रमा लें। फ़िलहाल उन्हें मौलाना राशिदुल-ख़ैरी[iii] के उपन्यास ही पढ़ते रहना चाहिए क्योंकि वे ऐसे ही दुर्बल दिमाग़ के लिए लिखे गए हैं।

लेकिन फिर ख़याल आया कि इससे होनहार बच्चों का दिल टूट जाएगा। अब तो माशाअल्लाह अहल-ए-ज़बान (मातृभाषी) भी स्कूलों, कालिजों में प्रवेश होने लगे हैं, और स्त्रीलिंग व पुल्लिंग के झगड़ों को छोड़कर आलोचना व व्याख्या के मैदान में अक़्ल के घोड़े दौड़ाने लगे हैं। ज़रा ग़ौर से देखें शायद कोई काम की बात कहना सीख गए हों। यूँ तो "अहल-ए-ज़बान" (मातृभाषी) की पतझड़ शुरू होकर ख़त्म होने को आई और भाषा को हाँकते-हाँकते साहित्य की दुम में नमदा भी बाँध गए (दिवालिया कर गये)। लेकिन शायद फिर भी किसी होनहार निबंधकार की दुम में कहीं कोई चिकना पात लगा हो, इस विचार से लेख को दुबारा पढ़ा तो मालूम हुआ कि जहाँ शुभचिंतक महोदय ने दस-बारह जगह अपनी अज्ञानता और अशिष्टता का सबूत दिया है, वहीं बीस-तीस जगह अपने अगाध ज्ञान की डुगडुगी भी ज़रूर बजाई है। और यह भी मालूम हुआ कि बुद्धि की भट्ठी में पकाया हुआ उनका ज्ञान उनके स्वतः-स्फूर्त अज्ञान से कहीं अधिक दिलचस्प है। लेकिन शुभचिंतक महोदय की इन विशेषताओं को पेश करना कुछ आसान काम नहीं। उनके लेख में विचारों के मोती बिखरे पड़े हैं। ज़ोर "बिखरे" पर है "मोती" पर नहीं। (दरअसल मोती की जगह एक और शब्द सोचा था लेकिन प्रयोग इसलिए नहीं किया कि "अहल-ए-ज़बान (मातृभाषी)" कहेंगे कि मुहावरा ग़लत हो गया) इन मोतियों को चुनकर इकठ्ठा करने के लिए उस लेख की भूल-भुलैयों में कई दफ़ा विचरना पड़ता है, क्योंकि अनर्गल बयान ऐसे आलोचकों का विशेष गुण है। मसलन फ़रमाते हैं:

"अनारकली..... तीन ऐक्ट का एक व्यक्तिपरक (सब्जेक्टिव) ड्रामा है जिसे अपारिभाषिक शब्दावली में यूँ समझना चाहिये कि इस रचना में ताज साहब आँखों देखी नहीं बल्कि मनमानी पाद्मावत सुनाएँगे।"

---

[i] मौलवी इस्माईल मेरठी (1844-1917) उर्दू के कवि। उपदेशात्मक व बच्चों की कविता के लिए प्रसिद्द हैं। (अनु.)

[ii] मौलाना हसन निज़ामी (मृत्यु 1955) : चिश्ती सिलसिले के सूफ़ी व उर्दू लेखक. बहुत ज़्यादा लिखते थे। उनके लेखों, डायरियों, कहानियों में भावुकता अधिक है सोच-विचार कम। (अनु.)

[iii] मौलाना राशिदुल-ख़ैरी (1868-1936) : भावुक और उपदेशात्मक उपन्यास लिखते थे जो एक ज़माने में बहुत प्रसिद्द हुए. आज उनका साहित्यिक महत्त्व नहीं. औरतों में शिक्षा के प्रचार और उनके कल्याण के लिए पत्रिकाएँ निकालीं। (अनु.)

अब इस वाक्य को कोई क्या करे। इतनी फ़ुर्सत कहाँ कि दिल्ली जाकर शुभचिंतक महोदय के अध्ययन कक्ष के दरवाज़े पर दस्तक दें और वे झरोखे से जो झाकें तो इतना पूछें कि हज़रत सब्जेक्टिव ड्रामा दिल्ली का मुहावरा है या लखनऊ का? क्योंकि हालाँकि शब्द अंग्रेज़ी हैं लेकिन अंग्रज़ी आलोचना-शास्त्र इस पारिभाषिक शब्द से पूर्णतया अनभिज्ञ है। इस पारिभाषिक शब्द का जो स्पष्टीकरण अपारिभाषिक भाषा में शुभचिंतक महोदय ने हम अज्ञानियों के लाभ के लिए कर रखा है उससे भी न खुला कि यह खोज क्या है, कब हुई और इसका कोलम्बस कौन है? ऐसा मालूम होता है कि शुभचिंतक महोदय ने शिकारपुर के सफ़र के दौरान व्हीलर बुक स्टाल से ड्रामा पर किसी लाल बुझक्कड़ द्वारा रचित कोई पुस्तक लेकर पढ़ ली थी जिससे उनकी अज्ञानता में इस क़दर सुखद वृद्धि हुई कि वे इसे ज्ञान समझने लगे।

संभवतः उसी लाल बुझक्कड़ द्वारा लिखित पुस्तक से शुभचिंतक महोदय पर यह भी उद्घाटित हुआ किः

"(अनारकली) साहित्य की मौलिक श्रेणी अर्थात कविता, फ़िक्शन और नाटक की अंतिम विधा की हैसियत से पेश हुई है। बल्कि यह कहिए कि इस विधा में भी यह पुस्तक निस्बतन एक ऐसे महत्वपूर्ण रूप अर्थात ट्रेजेडी की वाहक है, जिसे मनुष्य के दुखियारे जीवन के लिए एक इबरत (सबक़) का नमूना होना चाहिए।"

अर्थ सिर्फ़ इतना है कि अनारकली एक ट्रेजेडी है। लेकिन यह जताना भी उद्देश्य था कि इसके अलावा भी हम बहुत कुछ जानते हैं, और इस ज्ञान की अभिव्यक्ति के शौक़ में बात ऐसी घिसी-पिटी और अनर्गल कही कि *अत्तार गोयद*[1] वाली कहावत की ज़रूरत ही बाक़ी न रही। खुद इसी लेख में शुभचिंतक महोदय ने बड़े सरपरस्ताना अंदाज़ में स्वर्गीय मोहम्मद हुसैन आज़ाद की एक रचना का नमूना पेश किया है और उसे खूब सराहा है। हम महाज्ञानी शुभचिंतक महोदय से यह पूछना चाहते हैं कि यदि साहित्य की मौलिक श्रेणी वही है जिसे उन्होंने उपर्युक्त पैराग्राफ़ में यूँ छौंका लगाकर पेश किया है तो वे खुद ही बताएँ कि आज़ाद की यह रचना किस विधा में शामिल है। ख़्वाजा हसन निज़ामी का "सीपारा-ए-दिल (दिल के टुकड़े)" किस श्रेणी में डालिएगा। ग़ालिब के "उर्दू-ए-मुअल्ला" को क्या कहिएगा। आपकी पढ़ी हुई किताबों में से यही मिसालें पर्याप्त हैं।

आगे चलकर स्वीकार करते हैं कि अनारकली का यह क़िस्सा खुद ताज साहब के कथनानुसार एक बेबुनियाद चीज़ है। लेकिन आपत्ति जताते हैं कि नाटक के लेखक ने सर्वप्रथम ही अनारकली का यह वाक़या 1599 का लिखा है जबकि अकबर की उम्र छप्पन साल थी, और आश्चर्यचकित होते हैं कि अकबर जिसने जवानी में हेमू बक़्क़ाल को न मारा, वह छप्पन वर्ष की उम्र में अनारकली को भला कैसे मारवा सकता है। इस तर्क से अगर कुछ साबित होता है तो यही कि क़िस्सा बेबुनियाद है। फिर मालूम नहीं कि शुभचिंतक महोदय ताज साहब का समर्थन कर रहे हैं या खंडन।

---

[1] फ़ारसी की कहावत हैः " मुश्क आनस्त कि खुद बबूयद न कि अत्तार मी गोयद" अर्थात मुश्क वह है कि खुद खुशबू देती है न कि अत्तार बताता है। (अनु.)

एहतियातन भारत के सारे न्यायाधीशों को यह बात नोट कर लेनी चाहिए कि अगर उनके सामने कोई छप्पन वर्ष का व्यक्ति क़त्ल के इल्ज़ाम में गिरफ़्तार होकर पेश हो, तो उससे पहली बात यह पूछें कि क्यों बे तूने नौजवानी में हेमू बक़्क़ाल को मारा था? अगर जवाब नकारात्मक हो तो उसे रिहा कर दें।

इन मिसालों से मैं पाठकों को इस बात का विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि शुभचिंतक महोदय के लेख को समझने के लिए बाक़ायदा ग़लतियों की सूची तैयार करके साथ रखनी पड़ी। कई वाक्यों के व्याकरण में उलट-फेर करनी पड़ी। कई पैराग्राफ़ों को नए क्रम में लिखना पड़ा। कई वाक्यों के अर्थ ज्योतिषियों से पूछने पड़े, और इस दौड़-धूप के बाद यह अर्थ निकला कि शुभचिंतक महोदय को उनके कथनानुसार "ख़लिश"(खटक) तीन चीज़ों से होती है।

1. फ़रमाते हैं अकबर के सम्बन्ध में मैंने पहले भी कहा और अब भी खुल्लम-खुल्ला कहता हूँ (लेख का क्षेत्रफल इसी प्रकार की पुनरावृत्ति का ऋणी है), कि अनारकली लिखकर आपने उसका महान चरित्र तबाह किया है।

इस सिसिले में शुभचिंतक महोदय ने फिर अपने भ्रांतिपूर्ण चिंतन के कई सबूत दिए हैं। एक तरफ़ फ़रमाते हैं कि "सम्राट अकबर के नाम के साथ ही जो चित्र भारत के बच्चे-बच्चे की आँखों के सामने फिर जाता है वह आपके अकबर वाले किरदार से बिल्कुल नहीं मिलता" जिसका मतलब हम यह समझे कि शुभचिंतक महोदय के निकट नाटक का अकबर इतिहास के अकबर से भिन्न है (इसका जवाब तो संक्षिप्त में यह हो सकता था कि नाटककार या कोई भी रचनाकार इस बात का अधिकार रखता है कि किसी ऐतिहासिक व्यक्ति को जिस तरह चाहे पेश करे। यदि वह इतिहास के अनुसार न हो तो आप इतना ही कह सकते हैं कि ऐसे व्यक्ति को इतिहासकार की हैसियत से कोई प्रतिष्ठा नहीं मिलनी चाहिए। उसकी रचनाकारिता पर कोई सवाल नहीं उठ सकता। साहित्यशास्त्र के इतिहास में आपको कई उदाहरण इस बात के मिलेंगे कि एक ही ऐतिहासिक व्यक्ति को विभिन्न रचनाकारों ने नानविध व परस्पर-विरोधी रूपों में पेश किया परन्तु उनकी साहित्यिक हैसियत को इस विरोधाभास से सदमा नहीं पहुँचा। (लेकिन यह सिद्धांत थोड़े अध्ययन के बाद समझ में आता है)

फिर आप फ़रमाते हैं:

"नाटक रचयिता की परिभाषा यही है कि वह जीती-जागती हस्तियाँ पैदा करे और कभी भी कोई बात उनमें स्वभाव के विपरीत न हो।"

शुभचिंतक महोदय यह दूसरी बात कहने के साथ ही भूल भी गए कि यह वाक्य जो कहीं से सुन पाया था ज्यों-का-त्यों अपने लेख में रख दिया लेकिन इतनी हिम्मत न हुई कि इस प्रतिमान पर अकबर के कैरेक्टर को परखकर दिखाते और साबित करते कि अमुक बात जो अकबर ने कही या की, वह मानव स्वभाव के विपरीत है और सिवाय जिन्नात की सहायता के प्रकट नहीं हो सकती। जब यहाँ शुभचिंतक महोदय ने खुद ही हथियार डाल दिए तो हम भी उनकी जान बख़्शी किए देते हैं और दुनिया को गवाह बनाते हैं कि हम नौजवान होने के बावजूद हेमू बक़्क़ाल पर हाथ नहीं उठाते।

यह स्वभाव के विपरीत वाली बात शुभचिंतक महोदय ने सिर्फ़ रौब गाँठने को कही थी। असल मतलब उनका वही है कि इतिहास का अकबर बहुत शानदार है और नाटक का अकबर निर्दयी और अत्याचारी से

बढ़कर कुछ नहीं। इसके जवाब में हम शुभचिंतक महोदय की सेवा में मित्रवत सलाह पेश करते हैं कि वे दस-बारह साल तक रोज़ाना अनारकली का पाठ करते रहें। संभव है इसके बाद मोटे-मोटे बिंदु उनपर स्पष्ट हो जाएँ। यदि इसे पढ़कर उनकी आँखों के सामने अकबर का यह बिम्ब नहीं बनता, कि एक वैभवशाली, विद्या-प्रेमी, उदारचित्त सम्राट जो हर समय भारत के वैभव व पराक्रम के सपने देखता रहता है और जो इन सपनों को साकार करने के लिए हर समय प्रयासरत रहता है, एक युवा में, जो इस शानदार साम्राज्य का उत्तराधिकारी है, कमज़ोरी या गुमराही के ज़रा से आसार भी पाकर इस क़दर बेक़रार व परेशान हो जाता है और शासन संचालन की महत्वपूर्ण ज़िम्मेदारियों को इस हद तक महसूस करता है कि अपने पैत्रिक स्नेह का खून कर लेने से भी नहीं हिचकिचाता। अगर शुभचिंतक महोदय की आँखों के सामने यह तस्वीर नहीं खिंचती तो *चश्मा-ए-आफ़ताब रा चेह गुनाह*[i]? अगर अब भी शुभचिंतक महोदय को नाटक का अकबर केवल एक निर्दयी और अत्याचारी सम्राट मालूम होता है तो इसके अतिरिक्त उनका क्या इलाज है कि कोई सतपुरुष अपना जीवन उनके सुधार के लिए समर्पित कर दे, चाहे मरते समय सिर्फ़ यह सांत्वना अपने साथ ले जाए कि *इन्नमल आमालो बिन्नीयात* (कार्यों का दारोमदार नीयतों पर है)। अगर साहित्य-रसिकता न हो, लाभ उठाने की सामर्थ्य न हो, भावनाओं में जागरूकता न हो, मस्तिष्क में उजाला न हो, नाटक के मूलभूत सिद्धांतों के सम्बन्ध में सड़ी-बुसी पुस्तक में चंद वाक्य पढ़ लेने से आलोचना की योग्यता पैदा नहीं होती।

रही इस प्रकार की आपत्तियाँ कि अमुक दासी के मुँह से मुग़ल-ए-आज़म को फटकारें सुनवाई हैं, अमुक कनीज़ की ज़बानी सलीम की मिट्टी पलीद कराई है, सिर्फ़ रेख़्ती[ii] लिखने के लिए मसाला उपलब्ध करा सकते हैं, आलोचना से इनको कोई सरोकार नहीं। ऐसी आपत्तियाँ न केवल साहित्य से नितांत अनभिज्ञता बल्कि नितांत बुद्धिहीनता की दलील हैं। अकबर और सलीम तो निहायत साधारण इंसान हैं, अगर आप बिना नाम लिए किसी पैग़म्बर का क़िस्सा भी लिखें तो उसमें भी यह ज़िक्र ज़रूर आएगा कि अमुक व्यक्ति ने उनको पत्थर मारे, अमुक ने उनसे यह दुर्व्यवहार किया, यहाँ तक कि कुछ ने उन्हें सूली पर लटका दिया और फिर भी उनका उपहास करते रहे। फिर यदि आप पर कोई आपत्ति करे कि आपने, ख़ुदा माफ़ करे, अमुक पैग़म्बर का अपमान कराया तो बताइये कि आप उस व्यक्ति की बुद्धिमत्ता के दिव्य मुखड़े पर एक थप्पड़ लगाने के सिवा और क्या करेंगे। शुभचिंतक महोदय की सेवा में सिर्फ़ यही निवेदन किया जा सकता है कि श्रीमान जी आप एकाध पुस्तक अभी और पढ़ लीजिए, फिर आलोचना भी कर लीजिएगा। आपका हाथ किसने रोका है? लेकिन इस आलोचना-कार्य में भी आपको क्या आनंद आएगा कि हर लेख के बाद आप स्वयं ही आलोचना का विषय बन जाएँ।

एक बात पढ़कर हमें हँसी भी आई और रोना भी आया। फ़रमाते हैं:

---

[i] न गर बीनद बरोज़ शप्परह चश्म //चश्मा-ए-आफ़ताब रा चेह गुनाह? अर्थात यदि चमगादड़नुमा आँखों वाला व्यक्ति दिन को नहीं देखता तो इसमें सूरज का क्या दोष? (अनु.)

[ii] रेख़्ती: उर्दू शायरी की एक विधा जिसमें मर्द शायर औरतों की ज़बान और लहजे में शायरी करते थे, उनके लहजे की नक़ल उतारते थे, और उनसे सम्बंधित विषयों पर शायरी करते थे। (अनु.)

"मैं अपनी तो यह कहता हूँ कि अनारकली की ज़ाहिरी सुन्दरता देखकर बड़ी उम्मीदें बंधी थीं। सोंचता था कि वाक़ई यह नाटक मुग़लई वैभव व पराक्रम का एक सुहाना स्वप्न होगा, जिसमें हमारे पूर्वज सम्राटों के नित्य-प्रति के रमणीय दृश्य इस तरह दिखाए गए होंगे कि वसंत ऋतु है, सम्राट अकबर सैर व शिकार में हैं, सैंकड़ों हाथी, घोड़े और हज़ारों इंसानों की सेना पूरे लाव-लश्कर के साथ है, मानो जंगल में मंगल हो रहा है.....दो आशियाना मंज़िल (झरोखे) से लगा-लगा दीवान-ए-आम है, जिसके आँगन में बीचोंबीच चालीस गज़ लम्बे स्तम्भ पर आकाश-दिया रात में दूर-दूर रौशनी पहुँचाता है.....अच्छा यह चीज़ ताज साहब की समझ में न आई थी या इसका अवसर न था, तो अकबरी साम्राज्य का सुन्दर बाज़ू ही नौरत्न से ऐसा सजा देते कि सब देखते के देखते रह जाते। अगर इसका प्रबंध भी ताज साहब के बस का न था तो जश्न-ए-नौरोज़ के बयान में कम-से कम मीना बाज़ार की प्यारी तस्वीर खींच के यह रंग तो दिखाया होता कि विवेक के साम्राज्य के सम्राट अकबर महान ने अपने ईश्वर प्रदत्त स्वभाव से इसमें क्या नवीनता पैदा की.....यानी यही की सम्राट अमीरों को मज़बूत स्तम्भ समझता था, और उन्हें इस तरह मेल-मिलाप से रखना चाहता था कि एक-दूसरे की संगत से मज़ा बढ़े.....कभी-कभी ऐसा होता कि स्वाभिमानी अमीर एक दूसरे से खटक भी जाते। जहाँ ऐसी स्थिति पैदा हुई और सम्राट ने रिश्ता-नाता करके दोनों घरानों को एक किया।"

अब पाठकों पर स्पष्ट हो गया होगा कि शुभचिंतक महोदय नाटक को समझने के किस हद तक योग्य हैं। ताज साहब तो नाटक अनारकली का लिख रहे हैं कि उस कनीज़ का दर्दनाक अंजाम कैसे हुआ। लेकिन शुभचिंतक महोदय को यही अफ़सोस रहा कि ताज साहब ने उनको चालीस गज़ लम्बा स्तम्भ क्यों नहीं दिखाया। शुभचिंतक महोदय को खुद ही इस बात की मूढ़ता सूझ गई, लिहाज़ा दबी-दबी ज़बान में फ़रमाते हैं:

"अच्छा यह चीज़ ताज साहब की समझ में न आई थी या इसका अवसर न था तो ....."

बरख़ुरदार, बात यही है कि इसका अवसर न था। समझ में तो आपकी आ गया, लेकिन हठधर्मी आपकी वैसी ही क़ायम है। फिर भी कहे जाते हैं कि अच्छा यह नहीं तो नौरत्न ही दिखा दिया होता। अच्छा यह नहीं तो मीना बाज़ार ही दिखा दिया होता। अब इस बचपने का क्या इलाज? मतलब शुभचिंतक महोदय का यह है कि ताज साहब अनारकली का क़िस्सा तो थोड़ी देर को बंद कर देते और शुभचिंतक महोदय को एक ऐसा दृश्य दिखा देते जिसमें अकबर अमीरों के लड़कों-लड़कियों के रिश्ते कराते नज़र आते। कोई ताज साहब से पूछता कि हज़रत यह कैसी घुसपैठ है तो ताज साहब जवाब देते कि क़िस्सा अनारकली का सही, लेकिन अकबर की ख़ूबियाँ इस विस्तार से दिखाना पुण्य-कार्य है। अगर नाटक इसी उसूल पर लिखा जाता है तो ताज साहब को चाहिए कि अगले एडिशन में एकाध सीन गरनाता (स्पेन) का भी दिखा दें, क्योंकि उसकी दास्तान भी तो आख़िर इस्लामी कल्चर की अलमबरदार है। अगर गरनाता बहुत दूर है तो कम-से-कम तुज़ुक-ए-बाबरी का ज़िक्र ज़रूर होना चाहिए क्योंकि बाबर बहरहाल अकबर का रिश्तेदार था और शुभचिंतक महोदय के शब्दों में वह "बीते बुज़ुर्गों" में से था। अंत में एक सीन आल इंडिया मुग़ल कांफ़्रेंस का भी दिखा दिया जाए, जिसकी हाल ही में स्थापना हुई है, तो और भी चार चाँद लग जाएँगे। शुभचिंतक महोदय को "ऐतिहासिक कल्चर" का दर्द तो बहुत है, लेकिन उनका आस्वादन एग्रीकल्चर से आगे बढ़ने नहीं पाया।

2. दूसरी आपत्ति शुभचिंतक महोदय की यह है कि ताज साहब की अवलोकन-क्षमता बहुत कमज़ोर है। उदाहरण के तौर पर आपने ताज साहब का एक वाक्य उद्धृत किया है

"मौसम-ए-बहार की एक दोपहर ज़ोहर की नमाज़ अदा हुए डेढ़ घंटे के क़रीब वक़्त हो चुका है।" और आपत्ति जताते हैं कि इस वाक्य में अनावश्यक लफ़्फ़ाज़ी है। वाक्य यूँ होना चाहिए थाः

"बहार का मौसम, तीसरे पहर का वक़्त है।"

दोपहर के शब्द से जो धूप का दृश्य आँखों के सामने आ जाता है और ज़ोहर की नमाज़ के ज़िक्र से एक मुसलमान घराने की व्यस्तताओं की तरफ़ जो निहित संकेत है, वह आपने बिल्कुल नज़र-अंदाज़ कर दिया। वह चीज़ जिसे अंग्रेज़ी में ATMOSPHERE कहते हैं (अर्थ किसी पढ़े-लिखे से पूछिए। डिक्शनरी में देखियेगा तो शायद स्पष्ट रूप से समझ में न आएँ), उसकी तरफ़ से तो आपने शुभचिंतक महोदय अपने दिमाग़ के दरवाज़े बिल्कुल बंद कर रखे हैं।

मगर जिस वाक्य को वे बक़ौल खुद उभारकर दिखाना चाहते हैं वह यह हैः

"सुतूनों (स्तंभों) और मेहराबों के साए लम्बे होने शुरू हो गए।"

फ़रमाते हैं "यह एक खुली बात है कि सूरज ढलने के बाद साया ढलने लगता है और ज़ोहर की नमाज़ एक हद तक साया लम्बा होने पर ही होती है। लेकिन आपका आधुनिक अवलोकन बताता है कि ज़ोहर की नमाज़ के बाद डेढ़ घंटा हो जाए तो साए लम्बे होने शुरू होते हैं।"

साया ढलने और साया लम्बा होने में जो अंतर है वह आपकी समझ में नहीं आया। जिस स्तम्भ पर धूप पड़ रही है जब उसकी परछाईं स्तम्भ की लम्बाई से भी बढ़ जाए तो इसको साए का लम्बा होना कहते हैं। धूप के मामले में जिस क़दर अवलोकन आपका साबित होता है वह तो बाल सफ़ेद करने के सिवाय और किसी काम न आएगा।

3. तीसरी आपत्ति भाषा के सम्बन्ध में है। पहली आपत्ति तो ऐसे वाक्य पर है कि "तुम अलील (बीमार) हो शेख़?", "तो हर्ज क्या है हुज़ूर?" वग़ैरह-वग़ैरह। जो शख़्स "अहल-ए-ज़बान" (मातृभाषी) होकर भी यह न समझे कि संबोध्य का नाम वाक्य के अंत में रख देने से वाक्य का तेवर किस हद तक बदल जाता है, उसको कोई ग़ैर-अहले-ए-ज़बान (ग़ैर-मातृभाषी) तीन सौ मील के फ़ासले से लिखकर क्या सिखाए और किस तरह सिखाए और अहल-ए-ज़बान को यह किस तरह बताए कि अहल-ए-ज़बान (मातृभाषी) होना और बात है, ज़बानदान (भाषाविद) होना और बात है। काश कोई भाषा-निपुण व्यक्ति बुलंद आवाज़ में इन वाक्यों को शुभचिंतक महोदय के सामने पढ़े और शुभचिंतक महोदय के चेहरे का अध्ययन करता जाए, और जब आठ-दस दफ़ा पढ़ने के बाद उसे शुभचिंतक महोदय के मुखड़े पर हृदय-प्रसार के कुछ आसार नज़र आ जाएँ तो हमें तुरंत सूचित करे ताकि हम शुक्राने (शुक्रिया) की दो नफ़िल नमाज़ें पढ़ें। हक़ीक़त यह है कि जो लोग पुराने ढंग के हिन्दुस्तानी नाटकों के आदी हो चुके हैं, वे उनकी कृत्रिम भाषा और कृत्रिम रचना शैली से इस क़दर हिले-मिले हुए हैं कि इस तरह की जीती-जागती भाषा उन्हें तकलीफ़देह तौर पर अनोखी मालूम होती है। शेक्सपियर भी जब इस तरह की नवीनता लाया था तो लोगों ने उसपर इसी तरह आपत्ति जताई थी। उसके एक बहुत बड़े आलोचक ने उसके सम्बन्ध में यह कहा था कि छुरी और कम्बल जैसे शब्दों को नाटक में प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसलिए कि लोगों को "ख़ंजर और रिदा (चादर)" और इसी श्रेणी के बुलंद आवाज़ वाले शब्दों का

चस्का पड़ गया था और जो लेखक इस कृत्रिमता से हटकर लिखता था वह बहुत बड़े पाप का अपराधी समझा जाता था। शुभचिंतक महोदय इतिहास से वाक़िफ़ होते तो सबक़ सीखते। लेकिन *दामन अज़ कुजा आरद कि जामा नदारद* (दामन कहाँ से लाया कि इसमें जामा ही ग़ायब है)

"पुख़्ता हुस्न" (परिपक्व सौन्दर्य) और "फीका आसमान" आदि के सम्बन्ध में शुभचिंतक महोदय ने सिर्फ़ इतना फ़रमा दिया कि नए शब्द-युग्म हैं, लेकिन यह न फ़रमाया कि इनमें दोष क्या है। कोई आपत्ति जताते तो जवाब का कष्ट उठा लिया जाता। फ़िलहाल तो इतना ही निवेदन किया जा सकता है कि सही है हुज़ूर, ये नए शब्द-युग्म हैं, और इनमें से कुछ मसलन "पुख़्ता हुस्न" सिर्फ़ नवदीक्षितों के लिए नए हैं।

दो मुहावरों के सम्बन्ध में फ़रमाया है कि उनका प्रयोग ग़लत जगह पर हुआ है। आख़िर शुभचिंतक महोदय अपनी हरकतों पर उतर आए। हम भी आश्चर्यचकित थे कि अहल-ए-ज़बान की लिखी हुई आलोचना हो और उस हल्दी की गाँठ अर्थात "मुहावरे" का ज़िक्र न हो जिसकी बदौलत यू.पी. के कई महाशय पंसारी बन बैठे हैं। ताज साहब का वाक्य है "दुनिया की तो अनारकली अनारकली कहते ज़बान सूखी जा रही है और तुझे इतनी तौफ़ीक़ नहीं हुई कि झूठे मुँह से दो बोल शुक्रिए ही के कह दे।"

शुभचिंतक महोदय कहते हैं कि "झूठे मुँह" का यह सही प्रयोग नहीं। यहाँ "फूटे मुँह" चाहिए।

अगर माननीय शुभचिंतक महोदय "नूरुल-लुग़ात" (शब्दकोष) के पन्ने पलटने का कष्ट फरमाएँ तो उन्हें मालूम होगा कि "झूठे मुँह" के अर्थ हैं ज़ाहिरदारी और नुमाइश (दिखावा)। नाटक का जो वाक्य ऊपर उद्धृत किया है उसका मतलब यह हुआ कि दुनिया तो तेरी तारीफ़ें कर रही है और तुझसे इतना भी नहीं होता कि ज़ाहिरदारी या नुमाइश (दिखावे) ही के तौर पर दो बोल शुक्रिए के कह दे।

"फूटे मुँह" के अर्थ नूरुल-लुग़ात में यूँ लिखे हैं "(तहक़ीर से/ तिरस्कारपूर्वक) ख़राब मुँह से, बुरे मुँह, बद-दिली के साथ।" कोष्ठक में जो "तहक़ीर से" से लिखा है उससे आशय यह है कि मुहावरा जिसको संबोधित करके कहा जाता है उसका तिरस्कार भी आशय होता है। यानी शुभचिंतक महोदय की आपत्ति यह है कि अनारकली की माँ इस अवसर पर ऐसा वाक्य क्यों नहीं कहती जिससे अनारकली के तिरस्कार का अर्थ भी निकले! यह आपत्ति मुहावरे की आपत्ति नहीं।

दूसरी आपत्ति "सीन्चोंदार रौज़न (मोखा)" पर है। "सीन्चा" के अर्थ नूरुल-लुग़ात में ये लिखे हैं "छोटी सीख़ (सलाख़)" लोहे की छोटी सलाख़"। सीन्चोंदार रौज़न (मोखा)" लिखने से लेखक का तात्पर्य यही है कि ऐसा मोखा जिसमें लोहे की छोटी सलाखें लगी हों। इस शब्द के प्रयोग से रौज़न (मोखे) के बारे में भी अंदाज़ा होता है कि वह कितना बड़ा था। अगर किसी बहुत ही छोटे मोखे मसलन किसी गुड़िया के घर के मोखे का ज़िक्र हो तो सम्भव है कि वहाँ सीन्चा के बजाए सलाई का शब्द प्रयोग किया जाए। उस समय शुभचिंतक महोदय फ़रमाएँगे कि सलाई से तो सुरमा लगाया जाता है। ख़ुदा के लिए शुभचिंतक महोदय के कोई मित्र उन्हें समझाएँ।

बाक़ी शब्दों के बारे में सूचना के तौर पर निवेदन है कि आपको शायद मालूम न हो कि दिल्ली के एक लेखक मुंशी फैज़ुद्दीन गुज़रे हैं, जो लाल क़िले की ज़बान लिखने के लिए मशहूर थे। उन्हीं की एक किताब है "बज़्म-ए-आख़िर" (आख़िरी महफ़िल)। पिछले दिनों तो अनुपलब्ध थी। अब चाँदनी चौक की किसी दूकान से ज़रूर मिल जायेगी। कभी शाम को एडवर्ड पार्क से फ़ुर्सत पाकर उधर से गुज़रिए तो एक प्रति ख़रीदते जाइए।

इसमें आपको 'गंगाजल कपड़ा' और 'गोशपेच की गोट' और इसी प्रकार के कई और शब्द मिल जाएँगे जिनपर आप यूँ जाहिलाना आपत्ति व्यक्त कर रहे हैं। जो शब्द वहाँ न मिलें उनके सम्बन्ध में अबुल फ़ज़ल की आइना-ए-अकबरी का अध्ययन फ़रमाइए, वहाँ मिल जाएँगे। जो मुग़लिया नाटक लिखने बैठता है वह ऐसी प्रामाणिक पुस्तकों को ज़रूर देख लेता है। काश जो लोग आलोचना लिखने उठ खड़े होते हैं, वे भी इतना कष्ट उठा लिया करें।

अब आपके पास सिर्फ़ एक ही जवाब रह गया है। वह यह कि हम न तो नूरुल-लुग़ात को प्रामाणिक मानते हैं न बज़्म-ए-आख़िर को। अगर यह तथ्य है तो शुभचिंतक महोदय को चाहिए कि पहले अहल-ए-ज़बान (मातृभाषी) आपस में निपट लें। जब खुद उनका ईमान दुरुस्त हो जाए तो फिर बाक़ी प्रान्तों में भी प्रचार शुरू करें।

तू दरून-ए-दर चेह करदी कि बुरून-ए-ख़ाना आई
(तू ने दरवाज़े के पीछे क्या कर दिया कि घर के बाहर आ गया?)

यही कुल पूँजी है इस आलोचना की। पाठकों ने देख लिया कि इस आलोचनात्मक लेख में अनारकली के मूल विषय को शुभचिंतक महोदय ने छुआ तक नहीं। सिर्फ़ अप्रधान व गौण बातों ही में उलझे रहे। खुद अनारकली के कैरेक्टर के बारे में कुछ न फ़रमाया जो नाटक का प्राण है और जिसके इर्द-गिर्द पूरी घटनाओं और भावनाओं को संगठित किया गया है। दृश्यों के विभाजन के विषय में कुछ न लिखा, घटनाओं व किरदारों के सामंजस्य के सम्बन्ध में कुछ न फ़रमाया। ट्रेजेडी द्वारा उत्पन्न विभिन्न मनोभावों के उतार-चढ़ाव के बारे में ख़ामोश रहे। उर्दू नाटक के इतिहास को मद्देनज़र रखकर यह न फ़रमाया कि अनारकली का नाटक कहाँ तक परंपरागत ड्रामे का ऋणी है और कहाँ पुरानी पाबंदियों को तोड़ता हुआ नज़र आता है। इस बात पर बहस न की कि अगर यह नाटक स्टेज पर दिखाया जाए तो क्या कठिनाइयाँ पेश आएँगी, व्यावसायिक स्टेज इसको कहाँ तक स्वीकार कर सकती है और क्यों? किसी और ट्रेजेडी से तुलना न की। यह न फ़रमाया कि मौजूदा उर्दू नाटक की हालत क्या है और इसमें अनारकली नाटक किस हद तक उन्नति या अवनति का कारण होगा। कहा तो यह कहा कि अकबर बहुत अच्छा आदमी था। साए दोपहर के बाद ही ढलने लग जाते हैं और हमारे यहाँ सीन्चा नहीं फलान्चा होता है, और अपने दंभ में समझ यह रहे होंगे कि अरस्तू के बाद अगर किसी ने नाटक की आलोचना लिखी है तो हमीं ने लिखी है।

अब सिर्फ़ एक बात का ज़िक्र बाक़ी रह गया है, और चूँकि मैं इस बात को केवल संकेतों में बयान करना चाहता हूँ इसलिए डर है कि शुभचिंतक महोदय के पल्ले शायद न पड़े। ताज साहब ने अनारकली को मिस हिजाब इस्माईल के नाम डेडिकेट किया। चुग़ताई साहब ने अपनी चित्रकारी से इस नाटक के प्रकाशन को रौनक़ बख़्शी। ताज साहब और मिस हिजाब इस्माईल या ताज साहब और चुग़ताई साहब के परस्पर संबंधों की चर्चा शुभचिंतक महोदय को नहीं करनी चाहिए थी। शुभचिंतक महोदय और उनके स्तर वाले आलोचकों

को मानसिक रूप से अभी हज्व-नवीसी[1] के स्तर से ऊपर उठने का सौभाग्य प्राप्त न हुआ और अभी उन्हें यह महसूस नहीं हुआ कि इस तरह का उलाहनापूर्ण एवं विलापी चिड़चिड़ापन स्वयं आलोचक के छिछोरेपन की दलील होता है। विशेष रूप से महिलाओं का ज़िक्र इस बेतकल्लुफ़ी से न करना चाहिए जिससे शोहदेपन की बू आए। यह मिस हिजाब इस्माईल की बदक़िस्मती है कि वे अपनी रचनाकारिता की वजह से उस वर्ग में शामिल हैं जिसमें तकनीकी तौर पर शुभचिंतक महोदय भी क़दम रखते हैं। लेकिन शुभचिंतक महोदय को इस पर गर्व करना चाहिए, इसे अपने अज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए एक बहाना न बना लेना चाहिए।

शुभचिंतक महोदय के लेख के साथ साक़ी पत्रिका के संपादक ने एक नोट लिखकर सारे संसार में इस बात की घोषणा कर दी है कि "निबंध-लेखक की राय से संपादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।" और यूँ समझ लिया जाए कि वे सारी ज़िम्मेदारियों से मुक्त हो गए। लेकिन शाहिद जैसे प्रशिक्षित नौजवान को इस बात का अहसास होना चाहिए कि जिस अभद्रता की ओर हमने अंतिम पैराग्राफ़ में संकेत किया है उसका प्रकाशन एक शरीफ़ परिवार के सपूत को न करना चाहिए था। शुभचिंतक महोदय की आलोचनात्मक बदतमीज़ीयों की ज़िम्मेदारी से हम शाहिद साहब को बरी समझने के लिए तैयार नहीं। लेकिन शुभचिंतक महोदय का "निजी कल्चर" शाहिद साहब के दामन पर चंद ऐसे बदनुमा धब्बे छोड़ गया है जो बेताल्लुक़ी का एक नोट लिख देने से नहीं धुल सकते।

हम इस लेख के किसी खिसियाने से जवाब के लिए आँखें बिछाए बैठे हैं, चाहे वह जवाब शुभचिंतक महोदय लिखें या शाहिद साहब, या दोनों के दोनों में से किसी एक के कोई एक या एक से ज़्यादा गुमनाम या नामदार, उस्ताद, शिष्य या मित्र।

अनुवादक : डॉ. आफ़ताब अहमद
व्याख्याता, हिंदी-उर्दू, कोलंबिया विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क

---

[1] हज्व-नवीसी: उर्दू शायरी की एक विधा जिसमें प्रत्यक्ष और जातिगत कटाक्ष कए जाते हैं। यह व्यंग्य का सबसे निम्न स्तर माना जाता है। (अनु.)